

पूज्य बहिनश्री की विडीयो तत्त्वचर्चा-सी.डी.-१ A

प्रश्न :- उसमें महत्ता आ जाती है और विचार करते हैं तो विचारसे वह भाव टूटते नहीं। जो महत्ता आ जाती है, कुटुम्ब-परिवार के सभ्यों के प्रति ममता है ... जो महत्ता आ जाती है वह महत्ता विचारसे टूटती नहीं, तो क्या करना चाहिये?

समाधान :- उदयभाव है लेकिन अन्दर यदि आत्मा की लगनी लगे तो विचार करे। विचारसे नहीं टूटती। यदि आत्मा की ओर लगन लगे तो वह टूटे। वास्तविक तो कब टूटती है? कि ज्ञायक को पहिचाने तब टूटे। उससे भिन्न पड़े कि मैं तो ज्ञायक हूँ, यह मेरा स्वरूप नहीं है। वास्तविक रूपसे तो तब टूटती है। लेकिन उससे पहले भी उदयभाव भले रहा लेकिन स्वयं विचार करे, पुरुषाथ करे। मात्र विचार करे ऐसा नहीं, उसके साथ स्वयं को उसका रस टूट जाय तो वह मन्द पड़ जाती है। जो संसास सम्बन्धित विचार हैं उसका रस टूट जाय तो वह विचार मन्द पड़ जाते हैं, उसका रस टूट जाता है कि यह सब सारभूत नहीं है, सारभूत तो मेरा आत्मा है। यह सब तो निःसार है। ऐसा यदि उसको अन्दर निश्चय हो और उस प्रकार का रस टूट जाय के महिमावंत तो मेरा आत्मा ही है। यह सब कुछ सारभूत नहीं है। इस प्रकार का यदि अन्दर निश्चय हो और उस प्रकार की अन्दरसे यदि निरसता लगे तो वह टूटती है। विचार मात्र.. अकेले विचार किया करे और निरसता नहीं लगे तो ऐसे नहीं टूटती। अन्दरसे वास्तव में यह मेरा स्वरूप नहीं, यह सारभूत नहीं है। मेरा आत्मा शाश्वत है। यह कुछ महिमावंत नहीं है। यह सब तो मात्र कल्पनासे माना है। इसप्रकार का अन्दरसे वैराग्य आना चाहिये, उस प्रकार की लगन लगनी चाहिये, विचार के साथ-साथ, तो टूटे।

उदयभाव में स्वयं जुड़ जाता है लेकिन अन्दरसे उसका रस टूट जाना चाहिये, तो छूटे। रस टूटे तो अशुभमें-से शुभ में आये। लेकिन वह शुभ भी मेरा स्वरूप नहीं है, उससे भी मैं भिन्न हूँ। यथार्थ वस्तु को जाने कि सत्य तो यही है, बाकी सब असत्य है। तो असत्य में खड़ा रहना, वह यदि उसे अन्तरसे लगनी लगे तो टूटे। बिना लगन टूटे नहीं। आत्मा की महिमा आये बिना वह टूटे नहीं।

बाह्य के सब राग ऐसे होते हैं कि चैतन्य की ओर प्रेम जागृत हो तो बाहर का प्रेम अन्दरसे टूट जाय। एक मेरा आत्मा ही सर्वस्व है, वही जाननेयोग्य, वही देखनेयोग्य, वही विचार करनेयोग्य है, उसही का भजन करने योग्य है, यह सब व्यर्थ है। बाहर में भगवान जिनेन्द्र, जिसने वस्तु-स्वरूप बताया, वे ही हृदय में रखनेयोग्य है, गुरु हृदय में रखनेयोग्य है, शास्त्र का चिन्तवन करनेयोग्य है। इन सबपर दृष्टि रखनेयोग्य नहीं है, उसे लक्ष्य में लेने

योग्य नहीं है, उसपर राग करनेयोग्य नहीं है। ऐसा यदि अन्दरसे सत्य निर्णय आये और सच्चे विचार और सच्चे विचार आये और सच्ची लगन लगे और सच्चा वैराग्य आये तो टूटे। बाकी जीवने वैराग्य लाकर अनेक बार तोडा है, लेकिन यथार्थ कब टूटे? आत्मा को लक्ष्य में ले, ज्ञायक को पहिचाने तो वास्तविक रूपसे टूटे। नहीं तो विचारसे, वैराग्यसे टूटता है, उसका रस टूट जाता है। उदयभाव खुद को कहता नहीं कि तुम इसमें जबरदस्ती जुड़ जाओ, खुद जुड़ता है। उसे बाहर में कोई कहता नहीं है तू मुझे देख, तू मुझे सुन, तू मेरे विचार कर, ऐसा कोई कहता नहीं, स्वयं ही अपने रागसे जुड़ता है। उसका राग, निरसता लगे तो टूट जाय।

प्रश्न :- उसकी महत्ता आ गई है।

समाधान :- महिमा उसकी लगती है, महत्ता उसकी लगती है। चैतन्य की महत्ता लगती नहीं। महत्ता लगनी चाहिये। चैतन्य ही... आश्चर्यभूत और महिमावंत पदार्थ हो तो जगत में एक चैतन्य आत्मा है। और जिसने ऐसा आत्मा प्रगट किया ऐसे जो जिनेन्द्र भगवान, वे महिमावंत हैं और उसकी साधना करनेवाले गुरु महिमावंत हैं, बाकी कोई महिमावंत नहीं है और महिमावंत मेरा आत्मा है। बाकी कोई महिमावंत नहीं है। उसकी महिमा लगे तो टूटे। महिमा लगे तो निरसता आ जाय, तो टूट जाय। मात्र विचार किया करे, रूखे विचार किया करे तो टूटे नहीं।

प्रश्न :- आपके वचनमृत में आता है कि जीवन आत्मामय बना लेना चाहिये, वह कैसे?

समाधान :- हाँ, जीवन आत्मामय ही बना लेना चाहिये। यह पूरा जीवन राग में विकल्पमय है, उसके बदले आत्मामय जीवन (बना लेना चाहिये)। बस, मैं आत्मा हूँ। यह शरीर सो मैं नहीं, मैं तो आत्मा हूँ, मैं तो चैतन्यमूर्ति (हूँ), चैतन्यता-चैतन्य का स्वरूप वही मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ। इस प्रकार आत्मामय जीवन.. उसे कदम-कदम पर आत्मा ही याद आता है कि यह सब कुछ नहीं है, यह सब बाह्य परद्रव्य है। मेरा आत्मा भिन्न है, मैं तो चैतन्य हूँ, उसके आश्रित जो विचार आये वह सब विचार निरर्थक हैं, कुछ सारभूत नहीं है। मैं तो एक चैतन्य हूँ। आत्मामय जीवन ऐसा सहजरूप (हो जाना चाहिये)। भावना से करे, पहले तो सहज होना मुश्किल पड़ता है, प्रयत्नसे करे, लेकिन आत्मामय जीवन हो जा तो सब छूट जाय। तो उसकी एकत्वबुद्धि टूट जाय, तो सब टूटने का अवकाश है। आत्मामय जीवन बना लेना चाहिये। अंतर दृष्टि करके मैं तो आत्मा हूँ, ये सब बाहर दिखता है वह सब मैं नहीं, मैं तो अंतर में कोई अलग ही चैतन्यद्रव्य हूँ। यह सब बाहर में दिखता है वह मैं नहीं। बाहर में मान लिया है कि ऐसा शरीर वह मैं, यह सब मैं, बाहर की कल्पना में यह घर, कुटुम्ब, सब अपना माना है, वह सब मैं नहीं, मैं तो चैतन्य आत्मा हूँ।

अनन्त काल में बहुत किया। सब विचार किया, वैराग्य किया, सब किया लेकिन यथार्थ

नहीं किया है (अर्थात्) आत्मा को समझकर नहीं किया है। मैं तो आत्मा हूँ, यह मेरा स्वरूप नहीं है। स्वयं का अस्तित्व ग्रहण करके जो वैराग्य आये, जो विचार आये। स्वयं का अस्तित्व ग्रहण करना चाहिये कि मैं तो आत्मा हूँ। ऐसा सहजरूपसे करने का प्रयत्न करे। पहले सहज नहीं होता लेकिन सहज करने का प्रयत्न करे। यह उदयभाव मैं नहीं हूँ, मैं तो पारिणामिकभावसे रहनेवाला चतन्यस्वरूप आत्मा पारिणामिकभाव मेरा स्वरूप है, यह मेरा स्वरूप नहीं है।

प्रश्न :- श्रीमद् में ऐसा आता है कि पात्रता के लिये विशेष प्रयत्न रखना। तो उस पात्रता में कैसी विशेषता होनी चाहिये?

समाधान :- पात्रता अर्थात् स्वयं आत्मा को ग्रहण किसप्रकार करना? उसके लिये पात्रता विशेष (होनी चाहिये)। किसी भी प्रकार की तन्मयता नहीं हो। आत्मा की महिमा छूटकर बाहर की कोई महिमा नहीं आये, बाहर की कोई वस्तु आश्चर्यभूत लगे नहीं, एक आत्मा ही जिसे आश्चर्यभूत लगे, बाहर की कोई चीज आत्मा से अधिक नहीं हो जाती, एक मेरा आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट है। देव-गुरु-शास्त्र और एक आत्मा, उनसे कुछ विशेष लगे नहीं। विशेष ऐसे निष्प्रयोजन में विशेष एकत्व हो जाय, तन्मय हो जाय, बाहर के कोई-कोई प्रसंग में कषाय के रस में एकत्व, विशेष तन्मय हो जाय, वह सब आत्मार्थी को, जिसे आत्मा का प्रयोजन है, उसको वह सब मन्द हो जाता है। अनंतानुबंधी का रस मंद पड़ जाता है। तत्त्व कैसे ग्रहण हो, उस प्रकार की जिज्ञासा रहती है। बाहर में कहीं भी विशेष तन्मयता नहीं हो जाती, आत्मा छूटकर विशेषपने कहीं भी रस, सांसारिक कार्यों में उसे आत्मा के अतिरिक्त अधिक रस आ जाये (ऐसा नहीं बनता)। आत्मा जिसका प्रयोजन रहता है, ऐसी उसकी पात्रता होती है। आता है न? विशालबुद्धि, मध्यस्थता आदि तत्त्व प्राप्त करने का उत्तम पात्र है। अंतरंग जानने में आता है। कहीं भी राग में खींचाता नहीं, कहीं द्वेष में एकदम (तन्मय) हो जाये ऐसा नहीं होता। सभी (प्रसंग) में मध्यस्थ रहे। उसे सब छूट नहीं जाता लेकिन सब रस टूट जाता है और सब मर्यादित हो जाता है।

सम्यग्दृष्टि तो भेदज्ञान होनेपर भिन्न हो जाता है, जुदा हो जाता है, इसलिये उसको तो सब मर्यादा में आ जाता है। अनंतानुबंधी का रस छूट गया, न्यारा हो गया। भेदज्ञान हो गया इसलिये वह भिन्न ही रहता है, एकत्व होता नहीं, इस प्रकार भिन्न रहता है। लेकिन पात्रता में भी वह किसी भी प्रकार के विकल्प में विशेषरूपसे तन्मय नहीं होता। उसे भी भावना तो आत्मा की ही है, आत्मा का ही प्रयोजन मुख्य रहता है, उसे प्रयोजन मुख्य है। सम्यग्दृष्टि को ज्ञायकता की धारा चलती है। लेकिन इसे आत्मा प्रगट करना है इसलिये सब ओरसे रस छूटकर विशेष कहीं तन्मय होता नहीं। कोई विकल्पों में, कोई बाह्य कार्य में, किसी भी प्रकार के घर, कुटुम्ब में विशेष तन्मय (नहीं हो जाता)। रस कहीं (नहीं आता), कार्य में जुड़ता है लेकिन रस में तन्मय नहीं हो जाता। आत्मा का प्रयोजन ही

जिसे मुख्य रहता है। कषायनी उपशांतता मात्र मोक्ष अभिलाषा। मात्र मोक्ष की ही जिसे अभिलाषा है, मुक्ति की अभिलाषा है। प्रत्येक में जिसे आत्मा का ही प्रयोजन रहता है।

प्रश्न :- माताजी! जिसे आत्मा का प्रयोजन रहे उसे मध्यस्थता, जितेन्द्रियता का मेल होता होगा?

समाधान :- हाँ, सबका मेल होता है। सरलता होती है, सब का मेल होता है। विशेषरूपसे कहीं लिप्त नहीं होता। आत्मा का प्रयोजन होता है। उसके अंतरंग परिणाम समझ सके, विशेषरूपसे कहीं लिप्त नहीं होता। आत्मा को छोड़कर उसे कहीं भी विशेष रस नहीं आता। उसे, मेरा आत्मा ही सर्वोत्कृष्ट है, मुझे आत्मा नहीं मिले तो यह सब.... आत्मा कैसे प्राप्त हो वही उसको भावना रहती है। यह सब निःसार है, उसे कहीं भी रस नहीं आता। उसे विशेष रस कहीं नहीं आता।

आत्मा का ही करने जैसा है, वह सब विचार कर और ज्ञानस्वभाव का यथार्थ (निर्णय करना)। यह ज्ञानस्वभाव ही मैं हूँ, ऐसा निर्णय किया। लेकिन निर्णय किया परंतु बाद में अन्दरसे रुचि मन्द पड़ जाय तो निर्णय में फ़र्क पड़ जाये। आत्मा की ओर का पुरुषार्थ, जिज्ञासा और लगनी वैसी की वैसी हो तो निर्णय में फ़र्क नहीं पड़ता। प्रत्येक भूमिका में पुरुषार्थ तो होता ही है। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के बाद भी उसे पुरुषार्थ होता है। प्रत्येक भूमिका में साधकदशा में पुरुषार्थ होता है, तो जिसे आत्मा की रुचि हुई उसमें भी पुरुषार्थ तो साथ होता ही है। जिसने आत्मा का निर्णय किया कि आत्मा का ही करने जैसा है, ऐसा निर्णय किया और निर्णय करने में यदि अन्दरसे बराबर निर्णय करे तो वह पलटता नहीं। लेकिन यदि उसमें वह पलट जाय, पुरुषार्थ पलट जाय तो (निर्णय) बदल जाये।

प्रश्न :- मुझे आत्मा ही प्राप्त करना है, ऐसी भावनासे जो शुरूआत की थी, वह भावना यदि मन्द पड़ जाये...

समाधान :- भावना मन्द पड़े तो निर्णय पलट जाता है।

प्रश्न :- इसप्रकार निर्णय किया हो तो भी।

समाधान :- तो भी। भावना मन्द पड़े... मुझे आत्मा की करना है, आत्मा ही सर्वस्व है इसप्रकार निर्णय किया और यदि भावना बदल जाय तो उसके निर्णय में भी डाँवाडोल होने का अवकाश है।

प्रश्न :- माताजी! आशंका यह होती है कि स्वयं का और पर का अस्तित्व, द्रव्य-गुण-पर्याय तीनों से स्वयं का अस्तित्व, चैतन्यता वह मेरा अस्तित्व है, अचेतनता वह सभी परद्रव्य का अस्तित्व है और वह अस्तित्व उसका उस रूप रहता है, मेरा मुझरूप रहता है। किसी का ग्रहण होता नहीं। इतनी समझनपूर्वक और निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है वहाँ भी योग्यतासे अथवा वह द्रव्य उस पर्याय का कार्य करता है, इतना सब निर्णय करनेके पश्चात् जो विकल्प-राग उत्पन्न होता था, उसे गौण करके, उसका स्वामीत्व छोड़कर, मैं एक

ज्ञायक ही हूँ... इस प्रकार...

समाधान :- बहुभाग पलटता नहीं। जिसकी अन्तरंग भावना होती है कि आत्मा का ही करने जैसा है, ऐसी जिसकी अन्तर की भावना होती है उसे बहुभाग पलटता नहीं, फिर भी उसमें एक अवकाश है। उसकी भावना मन्द पड़ जाय तो पलट जाय। उसका निर्णय ढीला पड़े, भावना मन्द पड़े तो।

प्रश्न :- मतलब आप जो कहते हो कि प्रत्येक अवस्था में पुरुषार्थ चाहिये, इसप्रकार यहाँ भी प्रथम भूमिका में भी निरंतर उसप्रकार का पुरुषार्थ...

समाधान :- पुरुषार्थ होना चाहिये। उसे कहते हैं न कि तू सत्संग करना, गुरु की वाणी सुनना, तेरी आत्मरुचि टिकाने हेतु। स्वयं का इतना पुरुषार्थ नहीं हो तो दूसरे संग में तू मत रहना। जिसमें आत्मा की बात हो, सत्संग हो, ऐसे परिचय में रहना। बारंबार उसका विचार करना, स्वाध्याय करना, ऐसा आता है। क्योंकि तेरी रुचि को पुष्टि मिले, तेरी भावना को पोषण मिले। वह सब आता है। पुरुषार्थ मन्द हो और अन्य संग में रहे तो उसकी रुचि की मन्दता का कारण बनता है। यदि उतना पुरुषार्थ नहीं हो तो। नहीं तो कितने ऐसे भी होते हैं कि चाहे जैसे संयोग में हो, तो भी पुरुषार्थसे स्वयं की रुचि को दृढ़तासे सँभालता है और खुद इसीप्रकार आगे भी बढ़ता है। अपने ऐसे पुरुषार्थ ऐसा भी बनता है, लेकिन किसी का यदि इतना पुरुषार्थ नहीं हो तो उसे बाहर की असर, स्वयं के पुरुषार्थ की मंदतासे होती है। इसलिये तेरी रुचि, निर्णय वह सब तेरे पुरुषार्थसे सँभालकर रखना।

प्रश्न :- माताजी! रुचि अलग चीज है और ज्ञानसे किया निर्णय वह एक अलग चीज है, फिर भी रुचि मन्द पड़नेसे, निर्णय इसप्रकार समझपूर्वक किया हो तो भी वह पलट सकता है?

समाधान :- पलट जाय। रुचि मन्द पड़े तो फिर निर्णय भी मन्द पड़ जाता है। इतनी उसकी दृढ़ता में ठीलास आ जाती है, ढीलापन आ जाता है।

प्रश्न :- क्योंकि परिणति में ऐसा देखने में आता है कि एक महिना-दो महिना चिंतवन चला हो तब ऐसा लगता है कि यह निर्णय किया है वह निर्णय बदलेगा नहीं। लेकिन फिर ऐसा भी लगे कि रुचि मन्द होती मालूम पड़े और रुचि मन्द पड़े तो आप कहते हो वैसे निर्णय ढीला पड़ जाय, ऐसा भी ख्याल आता है। तब ऐसा लगता है कि इतनी समझपूर्वक और कोई भी कहे तो न्याय, युक्तिसे निःशंक निर्णय जो हुआ है उसमें ऐसा क्यों हो गया? लेकिन आप कहते उस अनुसार रुचि मन्द पड़े...

समाधान :- निर्णय ढीला पड़ जाता है। समझपूर्वक हो कि वस्तु का स्वभाव यही है, यह मेरा स्वभाव नहीं है, लेकिन रुचि मन्द पड़नेसे, आत्मा का करने जैसा है, ऐसा होने के बावजूद यदि अपनी रुचि और पुरुषार्थ मन्द पड़े तो निर्णय में ढीलापन (आ जाता है)। क्योंकि जो निर्णय किया उसप्रकार स्वयं का कार्य, अन्दर उस प्रकार की भावना यदि